चिनगारी

निरंकार देव सेवक

साहित्य भवन लिमिटेड,
प्रयाग

प्रिय अरविन्द गुप्ता

को

सस्नेह

[illegible]

२४/१२/८१

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड,
प्रयाग

प्रथम संस्करण
मूल्य : ॥I)

मुद्रक
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी साहित्य प्रेस,
प्रयाग

हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे
जाहिलों को

—निरंकार देव सेवक

अपनी बात

निरंकार देव सेवक बरेली के सुविख्यात, लोक-प्रिय प्रगतिशील कवि हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनकी तीसरी पुस्तक है। आज के पूर्व 'कलरव' और 'स्वस्तिका' नामक उनके दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

निरंकार देव सेवक की इन कविताओं की पंक्ति-पंक्ति में हमारा वास्तविक और दयनीय समाज कराह रहा है; और वास्तविकता का दिमाग़ी ऐय्याशी अथवा कृत्रिमता से क्या सम्बन्ध! कवि की यथार्थप्रियता और उसके विचार-स्वातन्त्र्य को तो छंदों के बंधन भी ग्राह्य नहीं, क्योंकि इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, बंधन बंधन हैं, उनसे स्वाभाविकता पर, निश्चित रूप से, कुठाराघात होता है। कवि का उद्देश्य तो आज की विषमताओं को, जिनमें आज हम जी रहे हैं और जिनमें कम से कम उसने अपना दम घुटता पाया है, शब्द-बद्ध करना मात्र है और वह भी बड़ी सावधानी से। उसे अपनी इस धुन के सामने सभी कुछ तो विस्मृत है! कवि की साध है कि किसी को भी उसे समझने के लिए माथापच्ची न करना पड़ा क्योंकि

जीवन जितना प्रत्यक्ष है उतना ही प्रत्यक्ष साहित्य भी है और इस दृष्टिकोण से वह, सचमुच ही, अत्यधिक सफल हुआ है। हम अनजाने ही उसके साथ हो लेते हैं। हाँ, उसमें संवेदना है, जो अनायास ही हमारे दिलों में घर कर लेती है। एक बात और, कवि ने, तथाकथित, बुरी वस्तुस्थितियों को बहुत ही बुरा क्यों न कहा हो, उसने जो कुछ कहा है वह आज का है और काफ़ी सत्य है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक जनता के सामने रखने में हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

पुरुषोत्तमदास टंडन,
मंत्री,
साहित्य भवन लि०, प्रयाग,

४-१०-४३

रात के १०॥ बजे,
बुधवार। (कदाचित्
जून सन् '४१ का अन्तिम सप्ताह—)

स्नेहमयी !

....

...................तुम्हें मेरी "किनारे किनारे"† कविता बहुत पसन्द है। तुम उसे अक्सर अपने बाग़ में अकेली घूमती हुई गुनगुनाया करती हो। कितनी अच्छी लगती होगी उस समय। काश! मैं कहीं से छिपकर तुम्हें उस 'मूड' में देख पाता। लेकिन मेरी इच्छा थी उस कविता को तुम्हारे पढ़ने योग्य बना देता। उसपर पुरुषत्व की छाप अधिक है, सम्भव है पढ़ने में वह तुम्हें कुछ अजीब-सी लगती हो। मैं कोशिश करूँगा......'कोशिश' इसलिए कि ऐसी बात में किसी का चारा नहीं, मैं कोशिश करके भी सदैव सफल ही नहीं हो सकता।

† अप्रकाशित **'मस्ती के गीत'** नामक संग्रह की एक कविता।

······और अब तो, जब कि मेरे कवि का बलिदान ही चढ़ चुका है,······वह मस्ती और उन्माद आज कहाँ से लाऊँ जिसमें उल्लसित होकर मेरा कवि स्वयं मुखरित हो उठे। × × × ! मैं क्या करूँ, मैंने अपने अब तक के जीवन भर यही कोशिश की थी कि किसी तरह मेरा कवि जीवित रह सके। मेरा सुकुमार कवि संसार की कठोर वास्तविकताओं के बीच में पल नहीं सकता था। इतना भयंकर वातावरण तो उसे अपने आतंक से ही मार डालता।······उसकी प्राण-रक्षा मेरे जीवन की सबसे बड़ी साधना थी। तुम्हें याद होगा जब कभी मैं संसार के अत्याचार और संघर्ष से बहुत अधिक घबरा जाता था मेरी इच्छा होती थी कहीं चलकर दूसरे सुखद संसार का निर्माण किया जाये—

—बनाऊँगा निज पर्ण - कुटीर,
कहीं उस ओर क्षितिज के पार,
जहाँ पर जा न सके दुख - मूल,
हृदय की इच्छाओं का राग ।
(विहगकुमार—'स्वस्तिका', पृ० २०†)

†"The poet's soul seems to cry out that as the world is fleeting and full of

जो मौत आज मेरे कवि ने मर ली है वह उस समय भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी। और इससे मेरे हृदय में जीवन की निराशा हिलोरें लेने लगती थी, फिर भी मैं इस संसार की अशान्ति के बीच रो-झींककर प्राण त्यागने के बजाय कम से कम मरना तो हँसी-खुशी से चाहता था—

—इस ओर क्षितिज के पार चलो, अपना संसार बसायेंगे
नीरव निर्जनता में ही निज, लघु प्रेम-कुटीर बनायेंगे
हलके धानी पत्तों वाली छायेंगे उस पर बेल हरी
उसके दो पीले फूलों-से, हम-तुम खिल मुरझा जायेंगे ।
('स्वस्तिका', पृ० ६३)

लेकिन तुम मेरी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा किए बिना न रहोगी × × × ! उस समय भी मुझे पूरा विश्वास नहीं था कि सुखशान्ति मुझे मिल ही जायेगी—

the 'fret and fever of life', he would, like Shelley, very much wish to learn from the bird, soaring in the sky, the secret of freedom from the chains of corroding cares......"

Modern Review
October 1942

—सम्भव है, इससे दूर कहीं
रहती हो कुछ सुख-शान्ति प्रिये !

संसार को मैं बड़ी गिरी हुई नज़र से देखता था। छिः ! यह भी कोई हम जैसे भले आदमियों के रहने का स्थान है। हमारी तो अनन्त जीवन-यात्रा में यह एक गन्दा परदेश पड़ गया है जिसमें प्रतिपल अपनी मातृभूमि के अलौकिक सुख की याद आती रहती है—

—बह रही त्रैलोक्य के अक्षय सुखों की धार जिसमें
हो रहे सुषमा-परी के नित नए शृंगार जिसमें
× × ×
हैं वहीं के दो पथिक हम-तुम जगत परदेश है प्रिय
('स्वस्तिका', पृ० ४८)

किन्तु 'भावनाओं का यह अमर संसार' हमारे जीवन के कठिन प्रत्यक्ष के सामने टिक न सका। उसका अस्तित्व ही क्या था। यद्यपि मेरा सरल कवि उस पर पूरा विश्वास किए बैठा था और प्रत्यक्ष संसार से अधिक सत्य वह इसे मानता था...लेकिन सत्य फिर सत्य ही है। कुशल से कुशल स्वप्न-द्रष्टा उसकी अपेक्षा नहीं कर सकता, मेरे कवि को भी उसके आगे शीश झुका ही देना पड़ा।

—एक ठोकर में बिखर कर जा रहे सुख-स्वप्न सारे
सत्य को जग के सकूँ मैं कल्पना से जीत कैसे ?
('स्वस्तिका,' पृ० १०६)

इस पराजय का 'शॉक' वह बरदाश्त न कर सका और वह बेचारा बीमार रहने लगा। बीमारी की हालत में ही कभी-कभी उसके मुख से निकल जाता था—

—जल रही मेरी जवानी की उमंगों की चिता पर
है न कोई आँख जिससे एक भी आँसू गिरेगा
× × ×
गीत मेरी वेदना के कौन दुनिया में सुनेगा ?
('स्वस्तिका', पृ० ११३†)

वह बहुत सोच-सोच कर परेशान होता रहता था कि यह सब क्या हो रहा है। कैसी मजबूरी है—

—मैं जिधर जाता न, मुझको आज जाना पड़ रहा है
थी घृणा जिससे मुझे अपना बनाना पड़ रहा है
सोचता था चहचहाऊँगा सुखी खग-बाल-सा मैं
गीत जो गाता न, मुझको आज गाना पड़ रहा है।
('स्वस्तिका', पृ० ११०)

†" 'Swastika'; records the pain of a free, ardent and infinite soul fettered to the furnace of the world and chafing bear-like in its struggle."—Prof. Ram-Asray Misra M. A.

Author of
'Life's Fantasia'.

थाइसिस के मरीज़ की तरह चिन्ता में ही घुलते रहने वाले मेरे इस सुकुमार कवि की बीमारी बराबर बढ़ती ही गई। क्षितिज के पार वह जा नहीं सकता था क्योंकि इन काल्पनिक स्वप्नों से उसे बहलाया नहीं जा सकता था और संसार उसे इस योग्य दिखाई नहीं देता था कि जिसमें सुख की साँस लेकर वह जीवित रह सके। उसकी हालत दिनों-दिन गिरती ही गई। शय्या की शरण ले लेनी पड़ी। मैं उसके विषय में बहुत बेचैन रहने लगा। कोई औषध-उपचार काम ही न देता था। मैं दिन-रात उसकी सेवा सुश्रूषा में लगा रहता था कि किसी तरह वह अच्छा हो जाए।...उसके जीवन को मैं अपना जीवन समझता था। एक अजब घबराहट, पागलपन सवार रहता था उन दिनों। तुमने देखा होगा—बड़े बड़े बाल हो गए थे, तन-मन की सुध न थी, आँखों में देखने से परेशानी साफ़ ज़ाहिर होती थी। मुझे प्रत्येक पल यही चिन्ता थी कहीं मेरा प्रियतम कवि मर न जाए। वह न जिया तो मैं कैसे ज़िन्दा रह सकूँगा। मैंने उसकी सेवा में अपना सर्वस्व लगा दिया...और तभी तुम्हें मालूम है दुनिया के लिए मैं खुद एक साल भर जीवित न रह सका था। मेरा एक साल ख़राब गया। मैं एम० ए० की परीक्षा में न बैठ सका।

अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी मैंने अपने कवि को मरने से बचा लिया। किसी वैरागी सन्यासी की बताई

एक औषधि मेरे हाथ लग गई। मेरे मृत्योन्मुख कवि में धीरे-धीरे प्राणों का संचार होने लगा। बहुत दिनों के सूखे से मुरझा जाने वाले बिरवे को जैसे बरसात का पानी मिल जाता है।...निराशा का घना अन्धकार धीरे-धीरे हटता गया, आकाश बादलों से साफ़ हो गया। उस संजीवनी औषधि के प्रयोग से मेरा कवि पूर्ण स्वस्थ हो, शय्या छोड़ कर उठ बैठा।...निराशा अब उसके पास नहीं फटकने पाती थी वह सदैव हंसमुख और आशा-वादी रहता था।

उसको यह जीवन-दान देने वाली औषधि क्या थी? जानती हो?...यह थी 'मस्ती'। उसने सोचा दुखद्वन्दों से भरी हुई दुनिया रहने योग्य नहीं, यह माना लेकिन मनुष्य में अगर शक्ति हो तो वह अपने विचारों की रक्षा करते हुए, समस्त संसार को अवहेलना की दृष्टि से देखते हुए, एक प्रकार से स्वार्थी (egotist) बनकर जीवित रह सकता है। जीना कौनसा प्राणधारी नहीं चाहता, और मेरा कवि भी जीवित रहने लगा।...उससे निश्चिन्त होकर मैं भी स्वस्थ हो गया। दीवानगी जाती रही। दुनिया मुझे समझदार समझने लगी क्योंकि मैंने न केवल अपने कवि के प्राण बचाने में सफलता प्राप्त की वरन् एक स्कूल में नौकरी भी करली थी, मेरी इस समझदारी पर मुझे सराहने वालों में से तुम भी तो एक हो।

हाँ, तो मेरा कवि मस्ती के गीत गाता हुआ बड़ा निश्चिन्त रहने लगा। उसे संसार में किसी से भी मोह-द्रोह नहीं रह गया। सांसारिक माप-दंडों से तौल कर रख दी जाने वाली छोटाई-बड़ाई से बहुत अधिक भारी वह अपने को समझने लगा—

मुझको महलों से बैर नहीं, मुझको कुटिया से प्यार नहीं
मैं एक भाव से दोनों में सुख-सरसाती बहती जाती।

('नदी का गीत')

ठीक भी था, महलों से बैर करना एक मुसीबत सिर लेना था और कुटिया से ही सन्तुष्ट होकर उसका महत्त्व अपने को अपमानित समझता। इसलिए उसने ऐसा ही स्वभाव बना लिया जिसके लिए राजा-रंक एक समान हो गए। एक अवसर पाकर उसके सारे शत्रुओं ने मिलकर उसपर एक ज़बरदस्त आक्रमण कर दिया। साहित्य, समाज, धर्म, श्रद्धा, भक्ति, सभ्यता, संस्कृति, परम्परागत रीति-रस्म-रिवाज़ सब मिलकर बड़े वेग से उसके ऊपर टूट पड़े। वह एकदम हतबुद्धि हो गया। उसके हाथ-पाँव फूल गए। उसके सारे उपाय बेकार मालूम होने लगे। वह साहस और बल खोने लगा। मैं उसकी कुछ भी सहायता न कर सका......। अपने आत्म-विश्वास के सहारे उसने कई युद्ध जीते भी किन्तु शत्रुओं के दाँव-पेंच के आगे उसका कोई वश न चल सका। बहुत कुछ हाथ-पैर फेंकने

के बाद वह क़ैद कर लिया गया। मैं चन्द बरदाई के समान स्नेह रखते हुए भी उसे शत्रु के पंजे से छुड़ा न सका। और तुम समझो, उन्मुक्त गगन सी विशाल उसकी आत्मा जब ज़रा से संकीर्ण पिंजड़े में बन्द कर दी जाए तो कब तक जीवित रह सकती है। उसका दम घुटने लगा और एक दिन उसने कड़ा जी करके अपने ही हाथों से अपना गला घोंट लिया।

आज वह मेरा कवि इस संसार में नहीं है। जिसकी रक्षा मेरे जीवन की सब से बड़ी साधना थी, जिसके बिना मैं कभी ज़िन्दा नहीं रह सकता था आज वही मुझसे छीन लिया गया है। और मैं अकेला रह गया हूँ, बैठा-बैठा उसकी समाधि पर श्रद्धा के आँसू चढ़ाते रहने के लिए। मुझे कैसा लगता होगा उसके बिना इसका अनुभव कर सकना तुम्हारे लिए सर्वथा असम्भव है। और, आज जब तुम मस्ती की चर्चा छेड़ देती हो मेरे कवि का वही मधुर, मोहक स्वरूप सजीव हो मेरी आँखों में नाचने लगता है। एक दृष्टि से वह स्वामी रामतीर्थ के 'बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरी शतरंज के', के ऊँचे आदर्श तक पहुँच गया जहाँ से बैठे-बैठे उसे सारा संसार एक कल-लगा खिलौना मालूम होने लगा।......संसार की बनाई हुई अच्छाई, बुराई, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, मन्दिर-मस्जिद का भ्रम भी उसके दिल से सदा के लिए जाता रहा।

एक बात और विशेष थी मेरे इस कवि की मस्ती में जिस पर मैं ही नहीं मुझसे स्नेह रखनेवाले कितने ही लोग जी-जान से फ़िदा थे और वह थी उसकी निर्भीकता और साहस।

उसका कहना था—

—पर्वत - नद - नाले - सर - सागर - खाई खन्दक - रेगिस्तान-
ज्वाल-जाल की भीषण लपटें घन-बिजली-आँधी-तूफ़ान
मुझे न पथ विचलित कर सकते मुझे न कर सकते हैरान
कभी नहीं होता भयभीत।
('मस्ती का गीत')

उसके प्राणों में साहस था और भुजाओं में पर्याप्त बल। समाज की उठती हुई उँगलियों और कटु आलोचनाओं की परवा उसे बिल्कुल नहीं थी। उसे विश्वास था कि वह जो कुछ कर रहा है वही ठीक है—

—'पुण्य वही है जो करता मैं, जो कुछ जग करता है पाप', अपनी इसी अकड़ में वह कई बार अपने प्रतिद्वन्दियों, अपनी मस्ती में बाधा डालने वालों पर छींटे उछालने से भी नहीं चूका!

—मुझे पण्डितों ने प्रलय भय दिखाया
फ़रिश्ते दिखा मौलवी ने डराया
मगर इनकी बातों पै मैं मुस्कराया

खड़े मेरी मस्ती पै जो हँस रहे हैं
तरस उनकी बुद्धी पै मैं खा रहा हूँ।
('किनारे-किनारे')

उसे अपना भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई देने लगा। निराशा की एक भी रेखा उसके जीवन में न रह गई—

—पतझड़ आने से मधुरितु पर जम जाये जग का विश्वास,
मैं भविष्य के स्वप्न बनूँगा, नहीं निराशाओं की याद।
('उन्माद')

आशा और उल्लास पग-पग पर उसके सहचर थे—

— तू विपदाओं से लड़ता जा, तू अपने पथ पर बढ़ता जा।
गीतों के स्वर पर इठलाता, तू गौरव-गिरि पर चढ़ता जा।
जीवन के घनघोर समर में, है तेरी ही जीत दिवाने।
गा मस्ती के गीत दिवाने।

ऐसे में अगर कोई उससे पूँछता—'कहाँ जा रहे हो हज़रत? आख़िर तुम्हारी इस यात्रा का अन्त भी कहीं है? किस उद्देश्य को लेकर चले थे?''—तो वह निरुत्तर हो जाता था और लापरवाही से केवल इतना कहता हुआ बढ़ कर चल देने का प्रयास करता था—

—मैं मस्ती की धुन में क़दम को बढ़ाये
जहाँ जग न पहुँचा वहाँ जा रहा हूँ।
('किनारे-किनारे')

अब तक तुमने देखा, मेरे कवि के भुजदंडों में बल था, पैरों में ताक़त थी, मन में साहस था, और सबसे बड़ी बात थी उसका अपने ऊपर विश्वास। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी वह वास्तविकताओं के जीवन-संघर्ष से दूर रहा था। गति तो उसमें एक वीर योद्धा जैसी थी किन्तु वह सबके पास से निकलता हुआ आगे बढ़ा चला जा रहा था। किसी से लड़कर उसने अपनी शक्ति अज़माई नहीं थी। जीवन की कठोर वास्तविकताओं के प्रति वह केवल लापरवाह रहा था, वे हैं ही क्या और उसका क्या बिगाड़ लेंगी? लेकिन किसी ने ठीक कहा है—अपने छोटे से छोटे शत्रु को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

लेकिन एक बात है, उसकी सकरुण स्मृति से ही आज मैं श्वास-वायु ग्रहण कर रहा हूँ। उसके आत्म-घात का ध्यान आते ही मैं पागल हो उठता हूँ। मेरी रगों में गर्म-गर्म खून दौड़ने लगता है, प्रतिहिंसा की तीव्र भावना पकड़कर मेरे रोम-रोम को झकझोर डालती है और मैं उसका प्राण लेने वाले शत्रुओं से बदला लेने के लिए व्याकुल हो उठता हूँ। मेरी और उसकी आत्मा को पूर्ण शान्ति तभी मिलेगी जब मैं उनपर पूर्ण विजय प्राप्त कर लूँगा। इसीलिए मैं आज भी मरा नहीं हूँ। मैंने शकटकार की तरह नन्दवंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा के

सहारे प्राण धारण किए हैं। मैं स्वयं अपना रक्त पी-पीकर जी रहा हूँ। मेरा मृत कवि आज भी मुझे जीवनी-शक्ति दे रहा है, मेरी नसों में ओज और उत्साह का संचार कर रहा है और मैं लड़े जा रहा हूँ बराबर बिना विश्राम लिए............क्या तुम भी इस महायुद्ध में मुझे कुछ भी सहायता नहीं दोगी?

सेवासदन,
बरेली।

निरंकार देव सेवक

सूची

कविता रानी !

मेरी कविता रानी !
आज न जाने क्यों
गीतों से उकताता मेरा मन,
आज न जाने
गति-लय से क्यों घबराता मेरा मन,
सुन्दरता को देख लिया करता हूँ कुछ बेमन से,
कला और कल्पना चली-सी गई आज जीवन से।
अब तक तो यह बात नहीं थी—
पश्चिम में जब केश सुनहले छितराती थी सन्ध्या,
जब मन माना वैभव
भर-भर दोनों हाथ जगत पर बरसाती थी सन्ध्या,
अपने ही मन की लाली से रँग जाती थी सन्ध्या,
जब कि कल्पनों के झूले पर कुछ गाती थी सन्ध्या,
मैं उसको बैठा बैठा घंटों देखा करता था।
वह मेरे मन में आकर कुछ ऐसी बस जाती थी,

कभी कभी छिपकर रातों को सपने में आती थी,
चन्द्र-किरण बन मेरी शय्या पर आ सो जाती थी।
अब जाने क्यों ?
उसे देखकर फिर जाती हैं आँखें,
उसे देखते ही लज्जा से गिर जाती हैं आँखें,
आज उसे मेरे मानस का प्यार
नहीं मिल पाता,
जिस पर था उसका पूरा अधिकार
नहीं मिल पाता।
सांध्य-समय छत पर भी तो मैं कभी-कभी ही जाता
वह आती है रोज़ मगर मैं कभी नहीं मिल पाता।

मेरी कविता रानी !
आज नहीं रंगीन तितलियाँ
मेरा मन ललचातीं,
आज न मेरी पलकें
मादक स्वप्नों से झुक जातीं,
आज न मेरी इच्छायें
परियाँ बनकर इतरातीं,
आज न मेरी 'अभिलाषायें
करवट ले सो जातीं।'
ऐसा क्यों है ?

कुछ भी समझ नहीं मैं पाता !
दुनिया को बन गया आज मैं सहसा एक पहेली,
वे पिछली रंग रेली,
वह यौवन-उन्माद याद भी कभी-कभी ही आता।
मेरे मन को आज हुआ क्या ?
अपने लिए आज मैं खुद हूँ एक अजीब तमाशा।
मैं सोचा करता था उड़कर पार क्षितिज के जाऊँ,
चुन-चुन कलियाँ-फूल-पत्तियाँ प्रेम-कुटीर बनाऊँ
और तुम्हारे साथ सुखद जीवन के दिवस बिताऊँ;
लेकिन देख रहा हूँ कुछ पिछले दिवसों से तुम भी
रहतीं रूठी-रूठी;
नहीं जान पाया मैं अब तक
अपना कुछ अपराध,
चली गईं तुम मुझे त्याग,
मेरे जीवन की साध !

मेरी कविता रानी !
रूप और यौवन बिखरा है चारों ओर हमारे,
अब भी उसी अदा से हँसते हैं अम्बर के तारे,
वही चन्द्र-किरणें फैली हैं भूमंडल पर सारे,
फूल और कलियों के अब भी होते वही इशारे।
लेकिन मुझको अब न रहा पहिले जैसा अवकाश,

पल भर ठहर किसी से कर लूँ छेड़-छाड़ की बात,
सिर डाले, मन मारे आते जाते हैं मधुमास,
नहीं हास-उल्लास,
रीती ही बीती जाती है यह जीवन की रात।

देख रहा हूँ मैं दुनिया को
घबराई आँखों से,
देख रहा हूँ मैं दुनिया को
पथराई आँखों से,
यह विचित्र संसार!
देख-देख कर इसको मेरा तन-मन है हैरान,
सूखे जाते प्राण।
रोज़ जटिल होता जाता है
जीवन का संघर्ष,
रोज़ शिथिल पड़ता जाता है
यौवन का उत्कर्ष,
दुनिया में क़ायम रहना ही
सरल नहीं है काम,
फिर मैं किस मन से चाहूँ
सुख-शान्ति और आराम।

लेकिन तुम अब भी चाहो तो हो सकता है इतना—

क्यों न रहो तुम साथ-साथ ही मेरे समरस्थल में?
साथ तुम्हारा पाकर,
—(देख लिया करना तुम मेरी ओर कभी मुस्काकर)—
मेरा हृदय रहेगा दूना;
विश्व-विजय करके लौटूँगा, सच मानो तुम, पल में,
नहीं फँसूँगा जाकर
कहीं मुसीबत की दल दल में।
मैं राजा दशरथ हूँ यदि तुम
बनो कैकई रानी,
मैं शंकर भगवान
अगर तुम भव-भामिनी-भवानी।

[जुलाई १९४१

संसार

नर्क-कुंड में पड़ा-पड़ा बिलबिला रहा संसार,
जैसे किसी सड़ी नाली में कीड़े कई हज़ार।
रक्त-माँस-मल-मूत्र आदि के छिछड़े से फैलाये
कोई जीभ निकाले बाहर, कोई मुँह को बाये,
आँखें जिनकी गन्दी
चिप-चिप होतीं मल में चिकटी,
हाड़-मांस के गहरे गोल गढ़ों के भीतर धँसी,
देख-देख कर जिन्हें उदर का भोजन मुँह में आए।
गन्दी चित्ती और धारियों सहित सिकुड़ घटती-बढ़ती-सी
मन में भाव घृणा के भरती,
देख जिन्हें मज़बूत हृदय वालों का दिल घबराये।
इनके पास खड़े होना भी पल भर है दुश्वार
और साँस लेना अपने पर करना अत्याचार।

विस्तृत भूमंडल के अगणित बालक-वृद्ध-युवा-नारी-नर

तन से मैले,
मन से मैले,
ज़िन्दा रहते ऐसे,
जैसे
सड़े गले काले मटियाले
किसी गाँव के गन्दे पानी के गड्ढे के ऊपर
साँय-साँय करते हैं मच्छर।

यह ऊँचे प्रासाद गगनगत,
ये टूटी फूटी झोपड़ियाँ खुद अपनी सत्ता पर लज्जित,
यह बस्ती, यह घर, आँगन, छत;
नगर ग्राम के मन्दिर, मस्जिद,
चर्च, कारख़ाने, कल, थ्येटर,
यह बाज़ार, दुकानें, कालिज,
स्कूल, हाल, होटल, बिजलीघर
मिल कर लगते एक बड़ा-सा कूड़े का-सा ढेर,
जो अपनी दुर्गन्धि विषैली चारों ओर बिखेर
सारे शून्य वायु-मंडल को कर देते हैं गन्दा।
और सूर्य की किरणें, मन्द हवायें, वर्षा की बौछारें
सड़ा-गला कर,
उथल-पुथल कर
डाल दिया करती हैं जिसमें कुछ जीवन के अंकुर,

फूट-फूट कर जो बन जाते कुछ गन्दे कीटाणु—
इस भू-मंडल के नारी-नर ।

मैं भी कीड़ा इसी नर्क का,
मैं भी इसी ग्राम के गन्दे पानी के गड्ढे का मच्छर,
इसी गन्दगी के ढलाव का छोटा-सा कीटाणु,
यह बतलाते हुए मुझे क्यों आये किंचित लज्जा ।
जिससे मुझे घृणा है इतनी,
देख नहीं सकता पल भर भी,
इसी गन्दगी से निर्मित है मेरा सकल शरीर;
इसके ही परिमाणु
रोम-रोम में व्याप्त; प्राण को रखते विकल अधीर ।
मैं अपने को समझ रहा था
अब तक जाने क्या-क्या ? ?
सुरा-सुन्दरी और देवता—
यहाँ कल्पना मात्र—प्रेयसी—निर्जन प्रेम-कुटीर ।
यहाँ न स्वर्ग और सुख-वैभव के फूलों की शय्या,
मैं न किसी के मन के राजा,
कोई न मेरे मन की रानी,
जो कुछ देख लिया सपना था,
जिसको मैंने केवल भ्रमवश
कुछ दिन समझ लिया अपना था ।

आज विश्व का नग्न रूप है मेरी इन आँखों के आगे,
आज मुझे अपनी आँखों पर है पूरा विश्वास,
जो कुछ देख रहा हूँ सच है,—
नर्क-कुंड में पड़ा-पड़ा बिलबिला रहा संसार
जैसे किसी सड़ी नाली में कीड़े कई हज़ार ।

[जुलाई, १९४१

समाज

किसी महा विकराल दैत्य के हो काले पंजे समाज, तुम!
बड़े नुकीले फैलाये नाख़ून,
टप-टप जिनसे टपक रहा है ख़ून।
चीर-फाड़ कर किसके खा जाने को हो तैयार
आज तुम;
कितने हुए शिकार
तुम्हारे,
शुद्ध, सरल
जो नहीं जानते थे दुनिया का दम्भ-द्वेष-छल
भोले-भाले मनुज बिचारे।
कितने घर आबाद
मान कर सामाजिक मर्यादाओं को,
परम्परागत रीति-रूढ़ियों-आदर्शों की सीमाओं को,
सत्य जगत का भूल
बलि-पशुओं की तरह ज़रा से झूठे सुख पर फूल,

आज तुम्हारी अनुकम्पा से
हुए भग्न-खंडहर से जर्जर, जीर्ण और बरबाद।

नहीं देखते तुम ?—
वह देखो दीन-दुखी-दुर्बल प्राणी है,
घर है उसका एक झोपड़ा—
मिट्टी के ढूहों पर टूटा-फूटा छप्पर पड़ा—
इसी में कट जाते हैं उसके जाड़ा, गर्मी औ' बरसात,
लेटा, बैठा या खड़ा
इसी में शीत-काल की रात
वह देता है बिता, महावट के सह-सह आघात।
अब तक के जीवन में उसने
एक बार भी तृप्ति और भरपेट नहीं रोटी जानी है;
मन में उसने
सदा सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करना ठानी है;
आँखें उसकी धँसी जा रहीं,
गालों पर अनगिनत झुर्रियाँ,
तन की हड्डी और पसलियाँ,
छेद-मांस की पतली चादर बाहर निकल न पड़ें कहीं।
ऐसा यह ग्रामीण फँसा है
आज तुम्हारे चंगुल में आ,
है सर गया कोई कुनबे का

उसके; इसीलिए देनी है एक बड़ी ज्योनार।
और नहीं तो जाति-बिरादर
गिल्ला-शिकवा बायकाट कर
उसका इस दुनिया में जीना कर देंगे दुश्वार।
इसीलिए कर्ज़ा लेकर
या अपना तन, मन, प्राण बेचकर
उसे जिमाना है समाज के दानव एक हज़ार।

यह आतंक तुम्हारा दानव !
तुम मनुष्य के प्राणों की बलि लेकर निशिदिन जीने
वाले !
रक्त देह का पीने वाले !
आज तुम्हारे अत्याचारों से कितना व्याकुल है मानव,
अपने जीवन से उकताया-सा वह परम अधीर,
कोई नहीं समझ सकता उसके प्राणों की पीर।

तुम सवार हो आज मनुज के
तन पर,
मन पर,
प्राण और जीवन पर,
भूत-प्रेत की तरह।
खेल रहा है मानव का व्यक्तित्व आज तुमको अपना कर,

झूम-झूम कर जैसे फूहड़ कोई गाँव की क्वाँरी
जिस पर पूरा ज़ोर दिखाकर
चढ़ आई हो पीपल वाली।

तुम रक्खे हो
मानव की घायल गरदन पर
जुआ एक ठेले का बनकर,
जिसे वहन कर
वह बेचारा
चला जा रहा है गिरता-पड़ता दुखिया आफ़त का मारा;
जैसे क्षीण काय,
असहाय,
हाँफ-हाँफ कर रुक-रुक जाता,
ज़्यादा जीने से घबराता,
कड़ी चोट कोड़ों की खाता,
ज़ोर लगा नस-नस का ठेला इंच-इंच भर ठेल,
मुँह से अपने झाग गिराता,
नहीं भाग सकता, नथनों में पहने हुए नकेल,
घुटनों के बल उठकर,
गिर कर
कोलतार की काली, लम्बी गरमी से पिघली सड़कों पर
चला जा रहा बैल। [जून, १९४१

शादी

हाथों में दानव समाज के फाँसी का फंदा है शादी,
जिसमें फँसा-फँसा कर गरदन,
बलि-पशुओं की तरह अनेकों
शुद्ध सरल उत्साह भरे मन,
श्वास-वायु के रुक जाने से सिसक-सिसक तजते हैं
जीवन,
जैसे कभी जाल में मछियारे के फँस जाती है मछली,
फुदक-फुदक कर,
उछल-उछल कर,
तड़प-तड़प कर,
जीने की कोशिश करती है,
किन्तु अन्त में जाती है मर।
वैसे ही व्यक्तित्व मनुज का
शादी के फंदे में फँस कर
सिसक-सिसक कर,

आहें भर-भर,
आँसू पीकर,
ग़म खा-खाकर
मिटा दिया करता है खुद को
सब को ख़ुश रखने की ख़ातिर।

वह यौवन!
जिसमें साहस था आँधी तूफ़ानों से लोहा लेने का,
जिसमें बल था ऊँचे बर्फ़ीले शिखरों को ढा देने का,
जिसमें ताक़त थी भूतल पर नूतन सृष्टि बसा देने की,
जो यौवन था सागर की उद्दाम तरंगों-सा लहराता,
जो यौवन था काली-काली श्याम घटाओं-सा घिर
आता,

आज उसी के हाथों में हथकड़ियाँ,
हैं पाँवों में लड़ियाँ
ज़ंजीरों की,
जिनके कारण उसे ज़रा भी,
इधर-उधर
हिल सकना दूभर।
अंग-अंग से सहमा-सिकुड़ा,
लुंज-पुंज-सा पड़ा,
आज मानता रहे निरन्तर वह समाज के अनुशासन को,

निश्चित नियमों के बन्धन को,
इसमें ही बस उसके परवश जीवन का है कल्याण बड़ा।

देख नहीं सकता समाज है
किसी व्यक्ति की बढ़ती ताक़त;
अगर कहीं वह अपनी हिम्मत,
अपने भुजदंडों की कुव्वत,
इस समाज पर ही अज़माये,
इसके अत्याचारों का गढ़ एक चोट में तोड़ गिराये,
इसके अन्यायों का बदला गिन-गिन सौ-सौ बार चुकाये,
इसी लिए यह ख़ूनी फंदा
उसकी गर्वोन्नत गर्दन में ज्यों-त्यों डाल दिया जाता है,
उसको फाँस लिया जाता है,
जिससे वह अपनी ताक़त को जीवन भर पहचान न पाये,
बँधा-बँधा खूँटे से घर में बकरी के समान मिमियाये।

शादी है यह या बरबादी ?
जिसके अग्नि-कुंड की ज्वाला
धधके प्राणों की बलि लेकर,
जिसकी प्रतिहिंसा की तृष्णा
बुझती रक्त देह का पीकर,
जो मनुष्य की गरदन पर चढ़

उलटी-सीधी छुरी चलाये,
जिसके भय से तरुण-युवक
घबराकर बिना मौत मर जाये;
वह शादी बेकार
जिससे बन जाये मानव का जीवन दुर्वह भार,
दुनिया में उसका जीना भी हो जाये दुश्वार,
जिससे छिन जाये मानव का जन्मसिद्ध अधिकार—
ज़िन्दा रहने की आज़ादी।

[जून, १९४१

गृहस्थ

अरे कूपमंडूक !
समझ लिया तुमने दुनिया को इसी कूप में सीमित।
इन दीवारों में है जितना,
उतना ही तो बड़ा नहीं है
यह विशाल संसार;
तुम्हें दिखाई देता जितना,
उतना ही तो बड़ा नहीं है
यह आकाश अपार।
जितने अंडे-बच्चों का है यह परिवार तुम्हारा,
जितने जीव-जन्तुओं का इस अन्ध-कूप में वास,
जिन तक परिमित रहता सारा
आज तुम्हारे मन का सुख-दुख, हर्ष और उल्लास,
उनसे कहीं अधिक है जग में
जीवों का विस्तार।
देखो चारों ओर

अपनी आँखें खोल।
राजनीति इन साम्राज्यों की,
राष्ट्रों का उत्थान-पतन यह,
विजयी देशों का गौरव,
विजितों बेचारों का क्रन्दन यह,
दशा बिगड़ना-बनना जग की संस्कृति और सभ्यताओं की
नहीं तुम्हारे शुद्ध हृदय के
राग-द्वेष तक,
हर्ष-क्लेश तक,
केवल सीमित ;
परिमिति
नहीं तुम्हारे मन तक इस अनन्त मानवात्मा की।
तुम तो एक नगण्य अंश भी हुए न विश्व-हृदय के।

इसी कूप में पड़े-पड़े तुम
व्यर्थ घुला डालोगे अपना दुर्लभ मानव-जीवन;
यहीं अन्त में
पड़े मिलोगे सड़े-गले तुम,
इसी अग्नि-जल-वायु आदि में
गला-मिला डालोगे अपना प्राणों से प्रिय तन-मन।
क्यों न जगत में जीवन पाकर देखो चारों ओर;
देखो, आज मचा दुनिया में महायुद्ध का शोर,

वीरों की सेना अनगिन्ती
लगा-लगा प्राणों की बाज़ी
मर-मिट जाती होंगी अपनी सत्ता स्थिर
रखने की ख़ातिर ।

जीवन का संघर्ष तुम्हारे भी तो है घनघोर ।
आज नहीं रह सकते जीवित
तुम दुनिया में सब से बचकर, रहकर आत्मविभोर ।
अपने अन्धकूप तक सीमित ।
आज नहीं तो कल
या परसों,
अपने को क़ायम रखने को
युद्ध तुम्हें भी करना होगा,
लड़ते-लड़ते मरना होगा
घुस आएगा जब कि तुम्हारे घर में बड़ा मगर ।

[जुलाई, १९४१

नारी

युग-युग के कारागारों से नारी ! तुम आज़ाद बनो अब,
यह तुम जिसको कहतीं मानव,
जिसकी श्रद्धा और भक्ति है
आज तुम्हारे जीवन का सबसे ऊँचा उद्देश्य,
जिसके चरणों की रज में है
सारा सुख-आराम तुम्हारा,
तुम्हें न सद्गति मिल पाएगी जिनका छोड़ सहारा;
तुम अपनी आशाओं, अभिलाषाओं, मनोभावनाओं को
अर्पित कर जिनके चरणों पर
भूल गई हो आज जगत में निज स्वतन्त्र व्यक्तित्व ।
मनुज नहीं है, वह है दानव
जो कि तुम्हारी पूजा पाकर
चलता है तन कर, इठला कर,
तुमसे सब सुख-साधन पाकर,
तुमको अबला दीन बताकर,

तुम्हें लाज औ' सहन-शीलता का देकर उपदेश
भोगा करता है दुनिया के सारे सुख-आनन्द।
तुम्हें जकड़कर सामाजिक मर्यादाओं के दृढ़ बंधन में
कठिन शृंखलायें नियमों की हाथ-पाँव में डाल,
आँखें लाल
दिखा-दिखाकर तुम्हें सदा रखता है अनुशासन में,
और स्वयं घूमा करता है नित निर्भय, स्वच्छन्द।

इतना भारी त्याग!—
तुम्हें न मोह ज़रा भी व्यापा अपने घर-आँगन से,
जहाँ रहीं तुम सोलह-सत्तरह वर्षों तक बचपन से,
दीवारों पर अंकित होगा खेलों का इतिहास—
मिट्टी के घरवोंदों से तुमको था कितना अनुराग—
गुड़ियें अब भी पड़ी-पड़ी करती हों शायद याद—
बहिन-भाइयों के निश्छल मानस का प्यार अपार,
माँ की मृदुल भावनाओं का दुर्लभ लाड़-दुलार,
पूज्य पिता के आशिर्वादों का अक्षय भंडार,
यह सब तुमने त्याग दिया है किसके लिए उदार?
किसके लिए लिया तुमने यह राग भरा वैराग?
तुम भोली अबला हो निश्चय—
नहीं देखतीं समय।
जिस दानव की दीवानी तुम बनी हुई हो आज,

जिसको मान लिया है तुमने साक्षात भगवान,
जिसके चरणों में तुम समझे बैठी हो कल्याण,
जिसका पूजन-आराधन कर,
तर जाओगी तुम भव-सागर,
वह उस कुल का ही है जिसमें उपजे मनु महाराज,
'चाचा तितलीमार'—
लेकर क़लम-कुठार
किए जिन्होंने तुम पर नित मन-माने अत्याचार;
तुम्हें समझते थे जो केवल
कटे हुए पर वाला पिंजड़े का पंछी लाचार,
जिसे देखते रहें खड़े हुशियार,
लिए नग्न तलवार
पिता, पुत्र, भाई, पति चारों बनकर पहरेदार।

आज पुरुष का मन बहलाने का तुम साधन-मात्र,
यह अपार सौंदर्य तुम्हारा,
अलसाये नयनों की चितवन,
सरल-मृदुल मन,
कमल-कली-सा कोमल-उज्ज्वल
स्वर्ण-राशि-सा कान्तिमान तन,
ये फूले गुलाब-सी सुरभित यौवन की फुलवारी
जिसकी पशुता,

निपट निरंकुशता-बर्बरता
लूट-लाट कर कर डालेगी दो दिन में बरबाद;
और लुटा डालोगी इसको,
तुम उदारता और त्याग की बनी मूर्ति आदर्श,
समझोगी इससे ही होंगे पति-देवता प्रसन्न।
—पति देवता नहीं तुम्हारा यह सदेह है काल,
इसे लगाकर मुँह तुम नाहक मना रही हो हर्ष।

घर की दीवारों की बन्दिनि!
अपने ही घर के धन्धों में,
सास-ननद के दुख-द्वन्दों में
बुरी तरह से लिप्त;
पल में हँसने, पल में रो देने वाली विक्षिप्त,
नहीं जानतीं तुम जग में क्या होता है दिन रात—
—किया रूस पर जर्मन सेना ने कब सहसा 'घात'?
दिया रूस ने कब हिटलर को पैदल की शह मात?
तुमको इन सब बातों से क्या?
तुम केवल इस घर की बांदी,
पति की सेवा करने वाली,
भोजन बना खिलाने वाली,
पति की जूठन पाने वाली,
सास-जिठानी के सोने से पहिले पाँव दबाने वाली;

फिर भी समझ रही हो तुम अपने को घर की स्वामिनि?
—यह है कैसा धोखा?

तुम हो वह मशीन जो ढालें गुड्डे-गुड़ियें ज़िन्दा,
जिन्हें खिलाया करें बैठकर
गोदी लेकर,
थपकी देकर,
चूम-चूम कर,
बुड्ढे होकर,
सास-ससुर जब करते हों विश्राम,
वृद्धावस्था में उनको जब रह न जाय कुछ काम।

तुम बन्धन में कितनी सदियों से रहती आई हो,
जानो-पहिचानो अपने को—
क्यों न तुम्हारा हो पुरुषों-सा ही स्वतन्त्र व्यक्तित्व?
क्यों न तुम्हारा हो पुरुषों-सा ही स्वतन्त्र अस्तित्व?
क्यों तुम पर रक्खा जाये इतना कठोर अनुशासन?
करे तुम्हारी इच्छाओं का क्यों कोई संचालन?
तुम अबला हो इसीलिए चुप
यह दुख दारुण सहती हो नित?
यह है भूल तुम्हारी,
नारी!—

तुमसे कहीं अधिक सुख से हैं जंगल के पक्षी-गण
जो खा-पीकर गा लेते हैं मन माना संगीत,
और किसी निर्जन में देते बिता शांतिमय जीवन।
पशु-पक्षी भी कभी न मन को सकते इतना मार
तुम अपने मन पर कर लेती हो जितना अधिकार।
घर की गाय,
नहीं खायेगी भूसा जब तक हो न चना भी साथ,
लेकिन तुम ?—
जो कुछ मिल जाये वही तुम्हारा भाग्य !
तुम अबला हो हाय !
दीन, हीन, असहाय,
निर्बल औ' निरुपाय !

[जुलाई, १९४१

हमारा धर्म

जीना धर्म हमारा,—
अगर पेट भरने को भोजन
दो कण हमें नहीं मिल पाये,
रक्त देह का सूख रहा हो,
प्राण उफन होठों पर आए,
उर की प्यास बुझा लेने को
आँखों में भी नीर नहीं हो,
मौत सामने मुस्काती हो
लेकिन हृदय अधीर नहीं हो;
ऐसे समय न सोचे-समझे,
छीन-झपट कर,
लूट और चोरी-वध करके
भोग देवताओं के खाना-पीना धर्म हमारा।

पड़े शीत की ठंडी रातों में यदि हम पाकड़ के नीचे,

सिकुड़े-सिमटे आँखें मीचे,
सिसक-सिसक कर छोड़ रहे हों दर्द-भरे निश्वास,
और हवायें शीतल आकर
देह गलाये डाल रही हों,
तन ढकने को वस्त्र नहीं हों,
रात बिताने को ईंधन के लिए न पैसा पास,
तो ऊँचे-ऊँचे महलों का
सभी साज-सामान जमाकर,
आग लगाकर,
ज्वाल जगाकर,
उसकी लपटों से अपना तन
ताप-ताप कर जग में जीवित रहना धर्म हमारा।

किसी देवता के चरणों की
रज पर बिना मोल बिक जाना,
आत्म-समर्पण करना—
अपने प्राणों का बलिदान चढ़ाना,
आँखों में आँसू भर लाना,
नहीं हमारा धर्म।
नहीं हमारा धर्म—
जगत से भीख दया की माँग-माँग कर,
जग-जीवन का मोह त्याग कर,—

बिना मौत मर जाना,
मरकर फिर दुनिया में आना।
धर्म हमारा है जीने का जन्म-सिद्ध अधिकार,
और प्राण देकर भी करना जीवन का उद्धार।

[जून, १९४१

बिरला के प्रति

यह ऊँचे मन्दिर बनवाकर,
नभ-चुम्बी दीवार उठाकर,
बड़े-बड़े पत्थर खुदवाकर
बड़ी-बड़ी बहुमूल्य मूर्तियों
में मणि-रत्न-स्वर्ण जड़वाकर
आज तुम्हारे उर में जागी
युग-युग जीने की अभिलाषा ??
अमर रहेगा नाम तुम्हारा ?—
कहा करेंगे लोग कभी था कोई बिरला सेठ !
और मृत्यु के बाद मिलेगा स्वर्गों में सम्मान !
सम्भव है इस धर्म-दान से हिल जाए इन्द्रासन !

तुम युग युग जीने के इच्छुक,
अमर देव-पद के अभिलाषी,
जग के सुख-वैभव से भरे—

—पुरे सुख-स्वर्गों के विश्वासी ;
और हमें पल-प्रतिपल जीवन
एक भयंकर भार रहा बन,
देखो वह विकराल,
खड़ा है हम भूखों का काल।

नहीं शिराओं में बाक़ी है दो बूँदें भी रक्त,
नहीं यत्न कर भी हम सकते गिरा नयन से नीर,
खाल हड्डियों पर है सूखी काई-सी मुरदार !
ऐसे में तुम हमें बनाने आए ईश्वरभक्त ?—
हमें सिखाने आए हो तुम दया-धर्म का ज्ञान ?—
हमें दिलाते कला और संस्कृति रक्षा का ध्यान ?—

ऐंठ रहीं सूखी अन्तड़ियाँ,
चटक रहीं हड्डी की कड़ियाँ,
तड़प-तड़प कर निकल रहे हैं अंग-अंग से प्राण।
हमें एक पल जीना दूभर,
तुम जीना चाहो वर्षों तक बनकर अजर-अमर।
निज धन-बल पर आज तुम्हें है इतना गर्व-गुमान ?
दया ?
दया शोभा देती है महलों के रहने वालों को,
जो पल भर भी दया-दृष्टि कर

किसी जगह भी दिखला सकते
सुख-वैभव की अमर सृष्टि कर;
हमसे दीन, दया के पात्र
दूसरों की अनुकम्पा पर अवलंबित जिनका गात्र,
दिखलायेंगे दया किसी पर क्या ?

कला ?—
कला उनकी है, जो हैं सुखी और सम्पन्न;
हम-से दीन-विपन्न,
दुर्बलता-वश जिनके मुख से नहीं निकलते बोल,
क्या समझेंगे भला,
मधुर-कल्पना और सत्य या शिव-सुन्दर का मोल।
कला हमें तो है धनिकों की क्रीड़ा-रास-विलास,
कला हमें तो है दुखियों की पीड़ा का उपहास।

धर्म ?—
धर्म के रक्षक हैं वे, जो हैं भूप महान,
जिनके धन का दान
क़ायम रखता है दुनिया में देवों का अस्तित्व,
और धर्म-ध्वजधारी ब्राह्मण का करता कल्याण।
हमने देखे हैं वे मन्दिर—
जिनका दीन-पुजारी पाता नहीं कहीं से दान—

खंड-खंड होकर जाते गिर;
और देवता शंकर हों या ब्रह्मा-विष्णु-महेश,
जगती का पालन-पोषण करने वाले अखिलेश
धनिकों का धन दान न पाकर
मिट्टी में मिल, जाते हैं मर।

धन पर निर्भर है जो धर्म,
उसका मर्म,
समझ न पाएंगे हम निर्धन भूखे, दीन, गँवार।
गीता, वेद, पुराण,
दर्शनों, उपनिषदों का ज्ञान
नहीं विचार सकेगा जो है भोजन से निश्चिन्त।

[जून, १९४१

न्याय

यही तुम्हारा न्याय ?—
तुम ऊँचे महलों में रहकर
पृथ्वी पर स्वर्गिक-सुख पाओ ?
मधु-यौवन की रंगरलियों में
फँसे कृष्ण-से एक-एक-सी
सुन्दर मदमाती अलियों में,
मौज करो, आनन्द उड़ाओ ?
दुनिया में यश-कीर्ति कमाओ ?
कला और संस्कृति के रक्षक
धर्म-ध्वज-धारी कहलाओ ?
और हम
पेट काटकर,
रक्त सुखाकर,
भूखे रहकर,
प्यासे रहकर,

जर्जर झोपड़ियों के भीतर
पड़े-पड़े दारुण दुख सहकर,
मेहनत मज़दूरी कर,
ग्रीष्म-शीत-वर्षा में अपना गाढ़ा स्वेद बहाकर,
पृथ्वी से मोती उपजाकर,
मिट्टी से सोना पैदाकर,
मणि-रत्नों के ढेर लगाकर,
महलों के क़ायम रखने को
सारे सुख-सामान जुटायें ?
और सदा जग में कहलायें,
दया-दृष्टि पर आश्रित दुर्बल-दीन-हीन-असहाय—
निर्बल औ' निरुपाय ?
यही तुम्हारा न्याय ? ?

यही तुम्हारा न्याय ?
तुम मन्दिर के बनो पुजारी,
मठाधीश महाराज !
शुद्ध हृदय, भोले भक्तों से अपने पैर पुजाओ ?
षट्रस भोजन खाओ कह कर देवों का परशाद ?
शयन करो ख़स की टट्टी में देवगणों के साथ ?
अवसर पाकर नारि-उदर में कर दो गर्भ विधान—
—'बच्ची, जा, नौ मास बाद तू पाएगी सन्तान !'—

किया करो तुम मानवता की क़िस्मत का इन्साफ़ ?
दया-धर्म की ओट माफ़ हों तुम को सब सुख-भोग ?
और हमें सारे सांसारिक वैभव से वैराग ?
सभी सुखों का त्याग,
आवश्यक है किसी विजन में साधा करना योग ?

हम हैं भक्त,
वहन हमें करना ही होगा भक्ति-धर्म का भार ;
और देवता के चरणों तक
सीमित कर देना होगा अपना असीम संसार,
यह उपदेश तुम्हारा है क्या नहीं स्वार्थ से पूर्ण ?
नहीं हमारे प्रति है क्या यह क्रूर, कठिन व्यवहार,
भीषण अत्याचार ?

दुर्ग हमारे विश्वासों का ढह जाएगा आज,
सह न सकेंगे अब हम अपने ऊपर यह अन्याय !
अन्यायी का न्याय मान लेना भी तो है पाप !

[जून, १९४१

त्याग

हमें त्याग का देने आए हो तुम क्या उपदेश ?
हम-सा त्यागी कौन ?
नहीं पेट भरने को भी हो भोजन जिसके पास,
नहीं देह ढकने को भी हों कपड़े जिसके पास,
सत्य-अहिंसा पर हो जिसका अटल-अचल विश्वास,
अपनी दीन-दशा पर भी हो जिसे पूर्ण सन्तोष,
अपना रक्त चूसने वालों,
अपना विभव लूटने वालों,
को दुनिया में देख-देखकर करते रास-विलास,
जिसे न आए रोष;
अपने तन का रक्त सुखाकर,
रोम-रोम का ज़ोर लगाकर;
मेहनत मज़दूरी के बल पर,
महल चुनाकर,
सुख के सब सामान जमाकर,

कष्ट सहन कर खुद, दुसरों को करने दें सुख-भोग।
जीर्ण-शीर्ण कुटिया में रहकर,
अश्रुपान कर, ग़म खा-खा कर,
ग्रीष्म-शिशिर-वर्षा की चोटें सहता हो जो मौन,
उसे त्याग का देने आए हो तुम क्या उपदेश ?
स्वयं त्याग का बना हुआ जो मूर्त्तिमान आदर्श,
नहीं हर्ष-उत्कर्ष ज़रा भी जिसके मन में शेष।

त्याग सिखाओ जाकर उनको
जिनके पास विभव है इतना,
खा, पी, पहन भी न सकें जितना।
हाथ हिलाए बिना
मिल जाते हों जिन्हें जगत के सारे सुख-आराम,
छीन रहे हों जो निर्धन के हाथों का भी कौर,
खींच रहे हों जो ग़रीब की गुदड़ी का भी वस्त्र,
सूखी हुई नसों का भी जो पान कर रहे रक्त,
खुरच रहे कमज़ोर किसानों की हड्डी का मांस,
भर लेने को अपना बड़ा उदर।
और, जगत में फिर भी जिनका दूर-दूर है नाम,
कहलाते हैं जो धर्मात्मा दानी-सेठ-महान।
त्याग सिखाओ उनको जाकर।
त्याग सिखाओ जाकर उनको

जो मन्दिर के मठाधीश बन,
अपने भक्तों की श्रद्धा को,
सुख-स्वर्गों का लोभ दिलाकर,
ईश्वर का आतंक दिखाकर,
शास्त्रों के शासन में लाकर,
निशिदिन ठगते ही रहते हैं,
उनको लूट-लूट कहते हैं—
अगर न पास तुम्हारे हो धन
तो निज तन-मन-जीवन
लाकर इन देवाधिराज के चरणों पर कर डालो अर्पण।
भक्तों से उपवास कराकर,
प्राणायाम-योग सिखलाकर,
स्वयं सदा मिष्ठान्न और पकवानों का परशाद चढ़ाकर,
भोग लगाकर,
धनवानों से बड़े-बड़े भंडारों का सामान जमाकर,
अपना उदर भरा करते हैं,
मंदिर के महन्त का पद पा, ज़मींदार शासक जाते बन।
अपने मतलब के पूरे हैं,
स्वार्थ-सिद्धि है जिनके जीवन का ऊँचा उद्देश्य,
उन्हें त्याग का सिखलाया जा सकता है उपदेश ?

[जून, १९४१

तुलसीदास

बाबा तुलसीदास !
अगर ले सको तो लो जग में तुम फिर से अवतार,
अपने इन भोले भक्तों की
पलकों से यह राम-राज्य का सुखमय मादक स्वप्न हटा लो,
जिस तक नहीं पहुँच हो सकती,
इनकी आँखों के आगे से यह ऊँचे आदर्श उठा लो,
कहाँ भला तुम देने आए इतना गहरा ज्ञान ?
किसे भला तुम सिखलाने आए यह जप-तप-ध्यान ?
भोजन और वस्त्र के ऊपर,
जीवन भर भरसक प्रयत्न कर,
आज नहीं उठ सकता मानव ।
सच—
भक्त तुम्हारे आज जगत में भटक रहे हैं ऐसे,
भेड़ बकरियाँ जैसे,
छोड़ गया हो जिन्हें अँधेरे रस्ते में चरवाहा ।

राम-राज्य है केवल अच्छी कहने भर की बात,
राम-भरत के उच्च चरित्र,
उज्वल और पवित्र,
लगते हैं कमरे में लटके प्राण-हीन-से चित्र ।

तुम थे सिद्ध महात्मा,
सांसारिक सुख-दुख-द्वन्दों से,
मानवीय जीवन-धन्धों से
काफ़ी ऊपर उठी हुई थी सरल तुम्हारी आत्मा ।
राग-द्वेष से थे तुम काफ़ी दूर,
और तुम्हारे पास कल्पना-प्रतिभा थी भरपूर,
खाने को मिल ही जाता होगा तुमको भरपेट,
बिना उठाए कष्ट ।
नहीं तुम्हारे कन्धों पर था चिन्ताओं का भार,
तुम सकते थे दिखा जगत को राम-राज्य का सपना,
बुन सकते थे रंग-बिरंगे आदर्शों का जाल,
तुम दुनिया में रह कर भी थे देव-लोक के वासी,
मर्त्य-लोक वासी हम, मानें कैसे तुमको अपना ।
राम-नाम का आज विश्व में होता है व्यापार,
दुनिया में हैं दया-धर्म के लाखों ठेकेदार ।
देव वही आदर पाते हैं
जिनके नीचे गड़ी हुई हो अरबों की सम्पत्ति,

जिनके नाम लगी होती हैं लाखों की जागीर,
बात मानते हैं जिनके महन्त की वायसराय,
बनकर सदा सहाय।
उन पुजारियों का चल पाता किन्तु नहीं व्यवसाय
जिनके मन्दिर और देवता होते हैं धनहीन,
दीन और प्राचीन।

भक्तों को ठगने का साधन बने हुए हैं राम!
पापों को ढकने का साधन है सीता का नाम!

[अगस्त, १९४१

भग्न मूर्त्ति के प्रति

कलकत्ते के बड़े म्यूज़ियम की पत्थर की मूर्त्ति—
विष्णु भगवान!
कितने भूप महान,
जिनका लोहा मान रहा होगा सारा संसार,
धरा नहीं सह सकती होगी जिनके यश का भार,
तुम्हें रिझाने को लाते होंगे षट्रस पकवान,
तुम्हें मनाने को नित करते होंगे जप-तप-ध्यान,
चरणामृत ले पा जाते होंगे इच्छित वरदान!
किसी हर्ष या चन्द्रगुप्त ने
अपने अखिल राज्य में सबसे
धूम-धाम से पुजवाई होगी चरणों की धूल तुम्हारी,
मनुजों के दल के दल आकर
तन-मन-जीवन-पुष्प चढ़ा कर
जाते होंगे
तुम पर बार-बार बलिहारी।

कितने मन अनजान,
भक्ति और श्रद्धा से तुम पर न्योछावर कर प्राण,
झुका चरण पर शीश
पा लेते होंगे खुश होकर मनमाने आशीष।
पद-रज छूकर करते होंगे अपने पर अभिमान।

भाग्य-विधाता
तुम कितने लोगों के होंगे
किसी समय में,
नाम तुम्हारा लेकर भूपति
लुटा दिया करते होंगे निज युग-युग संचित सम्पत्ति।
और तुम्हारा नाम
त्याग
और वैराग
सिखा देता होगा कितनों को,
मति—
फिर जाती होगी कितनों की
पड़कर भ्रम संशय में।
आज तुम्हारी दीन दशा पर,
सब प्रकार से हीन दशा पर
तरस मुझे है आता।
आज तुम्हारा न्याय

उस मानव के हाथों, जिसका तुम करते थे न्याय,
तुम निर्बल-निरुपाय,
दीन-हीन-असहाय,
सहने को तत्पर हो अपने भक्तों का अन्याय,
धन्य तुम्हारे भाग्य !!

किसी यवन अत्याचारी ने
काटी होगी नाक तुम्हारी,
किसी यवन अत्याचारी ने
फोड़ी होगी आँख तुम्हारी,
किसी यवन अत्याचारी ने
तोड़े होंगे पाँव तुम्हारे,
किसी भक्त ने आ श्रद्धा से
जोड़े होंगे हाथ तुम्हारे।
लुंज-पुंज तुम अंग-अंग से हीन,
आज हो जीर्ण-शीर्ण प्राचीन—
दीन,
जिनकी दया-दृष्टि से जीता था सारा संसार,
जिनकी कृपा-कोर देती थी जीने का अधिकार,
आज वही तुम बने हुए भू-भार
झेल चुके अपमान, सह चुके कितने अत्याचार,
दया दृष्टि पर दूसरों की अवलंबित,

गिन-गिनकर तुम काट रहे दिन, किस आशा से जीवित,
अभी कौन से दुर्दिन तुमको और देखना शेष ?
अभी कौन दुर्गति देखोगे अपनी और विशेष ?

देख तुम्हारा भाग्य,
सोच रहा हूँ मैं — मानव का क्या होगा दुर्भाग्य ?
समय फेर से छिन जाये जब
देवों का देवत्व,
उठ न जाय फिर क्यों दुनिया से
भक्तों का अस्तित्व ?

आज क्यों न निज में भर ले मर-मिट जाने की स्फूर्त्ति
कलकत्ते के बड़े म्यूज़िम की पत्थर की मूर्त्ति !

[अगस्त, १९४१

बुधुआ की माँ

टेलर रहमान,
नगर का सबसे मशहूर कटर,
'फ़िट एंड को' का प्रोप्राइटर,
पन्द्रह दिन लगातार मेहनत के बाद
लाया तैयार कर
बाबू का सूट एक
अपटुडेट ।
'बाबू' थे लखपती पिता के सुपुत्र,
एक मात्र,
कहे जाते थे 'प्रिंस',
बचपन से लाड़ प्यार सहित गए पाले थे,
नगर के होटलों, थ्येटरों, सिनेमाघरों,
रंडियों के चकले में
उनकी बड़ी धाक थी,
ठाट ही निराले थे ।

देखा जो सूट पहन,
शीशे के सामने जा खड़े हुए एक क्षण,
मन ने कहा—
—ये नहीं ठीक रहा;
बस,
नाक-भौं सिकोड़ हुए आपे से बाहर वह—
आस्तीन ऊँची है,
घेर कर दिया ढीला,
बैक से बड़ा,
रहता नीचे लटका,
मुड्ढों पर तंग,
जगह-जगह झोल,
यह पहिनने के क़ाबिल है ?
बीस रुपये गज़ का यह कपड़ा बिगाड़ दिया,
सूट सिया है यह या तुमने खिलवाड़ किया ।
रहमान !
ले जाओ इसे अभी,
मैं न इसे पहनूँगा,
—पहन कर क्या चार बड़े लोगों में बनूँगा ।
रहमान कहता रहा—कर दूँगा ठीक ; पर
'बाबू' के हाथों ने उसको उतार,
क्रोध में भर कर

आँखें कर लाल,
तोड़-मोड़, खींच-तान
रद्दी काग़ज़ की तरह फेंक दिया द्वार पर ।

'बुधुआ' था 'बाबू' का वफ़ादार नौकर,
उसने यह सब देखा
—इतना अच्छा कपड़ा,
इस प्रकार फेंक दिया !
उसका मन ललचाया—
एक बार मालिक का फटा औ' पुराना कोट
उसको मिला था जिसे पहिन वह गाँव गया,
अपने घर वह सबसे 'बाबू' कहलाया था ।
उसके मन में आया—
मुझको मिल जाय अगर
कोट यह, पहले तो
सेकिंड शो
देखूँ सिनेमा जा,
—या तो 'अनारकली' या 'हीरा रांझा';
कँवार के दशहरे पर
चार दिन की छुट्टी लेकर हो आऊँ घर,
मानेगा रईस मुझे गाँव भर !
गाँव की जवान लड़कियाँ तो सब

आँखों में प्यार भर
देखने लगेंगी रीझ-रीझ कर ;
'फुलिया' तो देख अंग फूले न समायेगी,
कहेगी—
अब तो हो गए बड़े आदमी ।
माता भी देख सुखी कितना सुख पावेगी !!

उसके उल्लास भरे, चमक रहे आनन पर
तभी दौड़ गई एक चिन्ता की रेखा,
माँ उसकी बुढ़िया—
—एक फटी मैली गुदड़ी से तन ढके,
झुर्रियों से भरा हुआ मुख ले,
हाथ पाँव सूख कर काँटे हुए,
आकर हो गई खड़ी आँखों के आगे ।
एक गर्म चादर की
बुढ़िया की बचपन से इस उम्र तक की
सब से बड़ी साध थी,
'बुधुआ' भी जिसे अभी तक न कर सका पूरी ।
पिता तो
कर्ज़े का बोझ छोड़ सिर पर
स्वर्ग को सिधारे थे ।
'बुधुआ' की आँखों में अन्धकार छा गया,

दिल बैठने लगा,
भौंहें कुछ झुक गईं,
मस्तक पर तीन गहरी रेखायें खिंच गईं ।

इतने में रहमान
आगे बढ़ा,
कोट उठा
चला गया,
'ठीक कर दूँगा'—दीनता से कहता हुआ ।

[जनवरी, १९४२

'छोटे' मेहतर

'छोटे' मेहतर !
मैंने सुना तुम्हारा भाई स्वर्ग सिधारा आज,
बहुत दिनों से वह बेचारा था मरीज़ बीमार,
नहीं वहन होता था उससे अब जीवन का भार !
मैंने जब उसको देखा था—
दुबला-पतला था वह केवल हड्डी का-सा ढाँचा,
नहीं वैद्य का भी हो पाया होगा कुछ उपचार,
कहाँ दवा के लिए रोज़ तुम लाते पैसे चार,
उसे पथ्य भी हुआ न होगा भले प्रकार नसीब,
ले जाते हो माँग-माँग कर तुम हम-सब की जूठन,
इसे ग्रहण कर सकता जग में किस मरीज़ का मन ?

लेकिन तुमने—
किए न क्या उसके मरने पर पूरे रस्म-रिवाज़ ?
दाह-कर्म का काज,

सोच-सोच कर यह मेरा मन होता है हैरान।
तुम ग़रीब हो—
मिल तो गया तुम्हें था उसका शव ढकने को वस्त्र ?
याकि फेंक आए गंगा में यों ही उसकी लाश ?
और आज ही दाह-कर्म कर
लिए-लिए झाड़ू-पंजा तुम फिरते हो क्यों घर-घर ?
ईश्वर करे न—
अगर हमारे लोगों के घर कोई जाता है मर
तो न कोई भी जाता दस-बारह दिन घर से बाहर,
कालिज, स्कूल, कचहरी, दफ़्तर।

कितना अन्तर ?—
तुम भी तो मनुष्य हो आख़िर,
नहीं तुम्हारे पास हृदय क्या ?
नहीं तुम्हें अपने भाई के मरने का कुछ भी ग़म !
नहीं बैठकर,
क्या तुम घर पर,
दिन भर भी उसके मरने पर
गिरा सके अपनी निर्मोही आँखों से दो बूँद !
अपने घर वालों से कहते धीरज के दो बैन !
मैं अचरज में पड़ा हुआ हूँ
देख तुम्हारी निष्ठुरता को,

तुम मनुष्य हो,—
या पत्थर की चलती फिरती प्रतिमा ?

—"बाबू जी ! यह सच है,
पर मैं आता अगर न आज—
तुम लोगों के घर इतने हो जाते बदबूदार,
इनके भीतर रहना तुमको हो जाता दुश्वार
और मुझे फिर घर-घर, जन-जन से मिलती फटकार।
फिर मैं खाता जिसका पैसा,
जिसका मैं नाचीज़ एक अदना-सा ख़िदमतगार,
उसे दिखाने को अपना दुख रोना-धोना कैसा ?
यह भी है,
मैं अगर न आता—
रोटी नहीं शाम को पाता,
भूखा ही रह जाता बीबी-बच्चों का परिवार ।

इस दुनिया में
शोक मना सकता है वह
है भोजन जिसके पास,
नहीं देखते आप ?
शाहजहाँ रोया मरने पर बीबी के दिन रात,
अमर कर गया 'ताजमहल' बनवाकर उसकी याद

लोग उसे कहते दिल वाला,
कवि देते हैं उसकी भावुकता की कितनी दाद,
हम निर्धन नंगे-भूखों का—
शोक मनाना, रोना-धोना, मरना-जीना ही क्या ?

[अगस्त, १९४१

बिजार*

तुम हो बिजार,
नगर की सब सुन्दर गायों के यार;
पति तो न कहूँगा,
ढोते नहीं हो तुम बीबी-बच्चों का भार,
और एक से ही सदा करते नहीं हो प्यार।
नहीं पिता
ऐसे किसी बेटे के,
जिसके
योग्य बना देने की तुमको हो चिन्ता;
नहीं सुता ऐसी कोई,
जिसे ब्याहने के लिए
तुम रहो अधीर—
तुम्हें सुखा देना पड़े अपना शरीर।

*काशी की भाषा में जिसे साँड़ कहते हैं।

तुम स्वतन्त्र—
क्रान्ति-दूत,
अग्नि-पूत,
कवि के विचारों-से,
जो न कभी मानते
कोई नियम, शासन या संयम की बात;
सामाजिक मर्यादा,
शिष्टता या सभ्यता की बाधा,
जिनके लिए है खुद
अपने ही हाथों से
अपनी ही सत्ता पर करना कुठाराघात।

तन-मन से मस्त,
जैसे किसी रेल से बहुत दूर
बसे हुए गाँव का अकेला धनी बनिया,
करके व्यापार
या चला कर व्यवहार
सूदखोर,
क्रूर—
कहला कर, दिन भर रहने के बाद व्यस्त,
शाम का भोजन कर
लेटा हुआ अपने घर

फिरा रहा हो पड़ा-पड़ा हाथ पेट पर ।

मस्ती तुम्हारी देख,
हस्ती तुम्हारी देख,
झेंप जाय देश का बड़े से बड़ा शहरयार,
लखपती ज़मीदार;
अपनी पोज़ीशन का होगा कुछ उसे ध्यान,
किन्तु तुम्हें
मान और अपमान,
शाप और वरदान,
पतन और उत्थान,
लज्जा औ' अभिमान
कभी नहीं व्यापता ।

रूस और जर्मनी
या हिटलर, मुसोलिनी
कैसे दाँव-पेंच खेल रहे तुम्हें इनसे क्या ?
तुम हो निश्चिन्त !
भारत पर राज्य करे जर्मन, जापान,
अमरीका, इंगलिस्तान,
तुम्हें सभी हैं समान ।
बड़े-बड़े नीतिज्ञ, चतुर-सुजान,

चेम्बरलेन, चर्चिल की टक्कर के विद्वान
सकते हैं भाव यह न मन से तुम्हारे हटा—
तुम हो इस दुनिया के एक मात्र बादशा ।

मौन, गंभीर तुम,
पृथुल शरीर तुम;
कभी जब पेट हो तुम्हारा ख़ूब भरा हुआ,
मार आए हो हाथ किसी कुंजड़ी के यहाँ,
खड़े-खड़े सोचते रहते हो ऐसे
भारत का दार्शनिक विचारक हो जैसे,
किन्हीं जटिल और गूढ़ भावों में घिरा हुआ,
उलझन में पड़ा हुआ,
खोज रहा दर्शन के कुछ रहस्य दुर्गम ।

क्रोधित जब होते हो—
नथने फुलाये हुए,
पूँछ को उठाये हुए,
आँखें चमकाये हुए,
मुझ को तो
ऐसा ज्ञात होता तब,
कुल-कलंक कायरों कपूतों के देश में,
लुटा दिया,

मिटा दिया
जिन्होंने है पूर्वजों की वीरता का गौरव,
तुम हो आए हुए,
राम और रावण या कौरवों औ' पांडवों के
युद्ध से बचे हुए,
महाबली योद्धा इस नए छद्‌म वेष में।

तुम हो आदर्श महापुरुष देश भारत के!
तुम जैसे वीर,
हृष्ट-पुष्ट, धीर-गंभीर,
गठा हुआ तन,
साहसी मन,
तेजस्वी नयन,
वक्षस्थल विशाल और कन्धे मज़बूत,
योद्धाओं की आज इस देश को ज़रूरत है।
हिटलर, स्टैलिन,
गोरिंग,
लगते तुम्हारे सामने हैं महज़ छोकरे!
जीत सकते हो तुम योरुप के सारे रन!
सच है,—
पुरखों का तप-तेज-संयम-आराधन
व्यर्थ नहीं जाता।

आज भी तो अमरीका, योरुप, जापान, चीन
दीन—
बने टेकते हैं चरणों पर माथा;
तुम जैसे लाड़ले सपूतों के ऊपर ही
अपने दुर्दिन में भी
गर्व कर सकती है कुछ भारतमाता।

[सितम्बर, १९४१

खर देवता

अर्द्ध निमीलित नेत्र,
नतमस्तक, गम्भीर, उदास,
किसी कष्ट का घाव हृदय पर लिए हुए चुपचाप,
अपनी पहिले की भूलों पर करते पश्चाताप;
मुख पर छाई ग्लानि,
हुई हो जैसे भारी हानि,
खो रहे आत्मविश्वास;
जेठ मास की दोपहरी की गर्मी से घबराकर,
रवि-कर-शर से अपने आकुल तन-मन-प्राण बचाकर,
खड़े हुए तुम एक किनारे,
मन मारे,
बीच सड़क से बच दीवारों की छाया में आकर
धीरे-धीरे-धीरे ।

मुझे तुम्हारी दीन-दशा को देख खेद है भारी,

खुली जा रही मन की सा'नुभूति की गठरी भारी,
यह ऊँचा व्यक्तित्व तुम्हारा !!
धूलभरे, भूरे, मटियाले रूंगटों से मंडित तन सारा
किसी उच्च गौरव-शाली पदवी का था अधिकारी ।
तुम्हें देखकर धोबी के कपड़ों की लादी ढोते,
श्रम-सीकर-पूरित दुर्बल-शरीर से व्याकुल होते,
स्नेह उमड़ आता नयनों में;
तुम त्यागी-तपसी-साधक-से मौन कार्य में लीन,
परोपकार में गला देह को करते रहते क्षीण ।

मुझे सोच अचरज है भारी,
मेरी मति-गति हारी !—
जिस दुनिया में परम देवता पूज्य गरुड़ भगवान,
सर्पराज, वसुदेव जहाँ पर पायें आदर मान,
हाथ जोड़ कर,
शीश झुका कर
जहाँ रीछ—वानर पुजते हों जामवन्त हनुमान;
जिस जग के विद्वान,
ज्ञानवान, गुणवान
कच्छप, मत्स्य आदि देवों पर करते हों अभिमान,
शंख बजा, आरती घुमाकर,
फूल चढ़ाकर,

भाग लगाकर,
जिस दुनिया में पुजते आए हों शूकर भगवान,
शूकर-क्षेत्र जहाँ का सबसे पावन तीर्थस्थान,
चूहे और उलूक जहाँ हों आदरणीय महान;
खर देवता ! ! !
उसी विश्व में तुम्हें निरादर, घृणा और अपमान !
दर-दर पर दुत्कार,
गाली से सत्कार,
देख तुम्हारी दशा न क्यों हो मेरी मति हैरान ?
मेरे लिए तुम्हीं हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश समान,
विश्व-वन्द्य भगवान ! !

[जून, १९४२

सभ्यता के पुतले

तुम बने सभ्यता के पुतले !
तुम हृदय-हीन, पत्थर समान,
जर्जर-जड़ता से विद्यमान,
नियमों ने, रस्म-रिवाजों ने,
नेताओं की शिक्षा, धर्मों के ग्रंथों की आवाज़ों ने,
निर्जीव बनाकर छोड़ दिया
तुमको शरीर से खींच प्राण ।
तुम ऐसे बन्धन में जकड़े
पाषाण मूर्ति से खड़े,
भूमण्डल पर रह गया तुम्हारा भी स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ
व्यक्तित्व कहाँ ?
तुम हिले-डुले,
महफ़िल में, सभ्य समाजों में
अपनी उन्नत सभ्यता दिखा,
क्रम से सिर गरदन हाथ उठा,

जैसे बंजारिन के धागे में बँधे काठ के कठपुतले !

तुम चले
सिर पर गौरव का भार लिए,
पाँवों के तलवों के नीचे
लज्जा, भय, अपयश, हार लिए,
गिन-गिन कर क़दम डालते तुम,
कुछ निश्चित नियम पालते तुम,
जैसे कर में बंदूक लिए,
सिर पर छोटा-सा टोप दिए,
एक साँचे में ढले—
जापानी चाबीदार टीन के बने सिपाही चले।

तुम बोले
दोनों होंठ हिला—
केवल मुख से उच्चरित शब्द
गिनती के कुछ स्वर-वर्ण मिला,
जिनमें मन की भावना नहीं,
जिनमें अन्तर-प्रेरणा नहीं,
जैसे झाँकी के कृष्ण-सुदामा आँख दिखा मुख खोलें !

वे क्षुद्र दीन, अनपढ़, गँवार,

तुम देते रहते धता
बताकर जिनको मूर्ख गधा,
जिनके कन्धों पर लदा नहीं
दुनिया के रीति-रिवाज सभ्यता औ संस्कृति का विषम भार,
जिनकी पीठों पर लदा नहीं
विद्वान लेखकों के ग्रंथों का लिखित ज्ञान, बोझा अपार,
जिनके मन हैं छल-कपट रहित,
जिनके अन्तर में भरा हुआ मानव के प्रति सत्कार प्यार,
जिनसे अपने को बड़ा मान,
तुम साभिमान
देते सदैव अन्याय, क्रोध, अपमान, निरादर, घृणा-दान;
यदि बुरा न मानो तो, सच कह दूँ—
वे पशु तुमसे भले !

[जुलाई, १९४२